



INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में प्रचलित 'वाद्य'

शोधकर्त्री— ओस सत्संगी (संगीत विभाग)

शोध निर्देशिका— डॉ. नीतू गुप्ता (संगीत विभाग)

डी.ई.आई. दयालबाग, आगरा

किसी भी क्षेत्र के लोकसंगीत में वाद्यों का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। लोकवाद्य, लोकगीत व लोकनृत्य आदि में बजाये जाने वाले वाद्य होते हैं। कुछ वाद्य तो सभी क्षेत्रों के लोकगीतों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं परन्तु कुछ वाद्यों के नाम, आकार प्रकार बनावट आदि में भिन्नतायें देखने को मिलती हैं चूँकि प्रस्तुत प्रपत्र वाद्यों पर आधारित है, अतः वाद्य शब्द क्या है इस पर संक्षिप्त रूप से चर्चा करना अनिवार्य है। “वाद्य शब्द संस्कृत भाषा के ‘वद’ धातु, जिसका अर्थ ‘बोलना’ होता है उसमें ‘ठाच’ और ‘यत्’ प्रत्यय के योग से ‘वाद्य’ शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है ‘बोला हुआ’।”

दृष्टिपात करने पर प्राप्त होता है कि प्रत्येक क्षेत्र के लोकसंगीत में प्रयुक्त वाद्य व अपनी पारम्परिक धुनें होती हैं इसी सन्दर्भ में आदिवासी वाद्य व लोकवाद्य के प्रयोग में भी भिन्नता दिखाई देती है।

हर क्षेत्र में अपने वाद्य व पारम्परिक धुनें होती हैं आदिवासी वाद्य व लोकवाद्य दोनों में भिन्नता दिखाई देती है। “आदिवासी वाद्य प्रवृत्ति और प्रकृति के आधार पर लोक वाद्यों से सर्वथा भिन्न होते हैं आदिम वाद्यों की प्रवृत्ति प्रायः सामूहिक होती है, जबकि लोक वाद्य अपनी स्वायत्ता में स्वतंत्र एकल भी बजाये जा सकते हैं। आदिम अवधारणाओं के आधार पर वाद्यों की उत्पत्ति उनके देवताओं से हुई है। उनके बड़े देव पृथ्वी, अनाज की उत्पत्ति के साथ वाद्य निर्माता भी हैं। लोक में आदि वाद्यों का उद्भव शिव और पार्वती के तांडव और लास्य नृत्य के कारण हुआ है। इस अर्थ में शिव का डमरू या ढाँक लोक का आदि वाद्य कहा जा सकता है।”

प्रागैतिहासिक काल से ही गायन, वादन तथा नृत्य की संगति में वाद्यों का प्रयोग होता रहा है। गायन, वादन व नृत्य तीनों के समावेश को ही संगीत कहते हैं। चाहे शास्त्रीय संगीत हो या लोकसंगीत दोनों में ही गायन के अधीन वादन व वादन के अधीन नृत्य है, अर्थात् तीनों एक दूसरे से जुड़े हैं। चाहे गायन हो, नृत्य हो या नाटक हो, सभी, वाद्यों की संगति के बिना अधूरे होते हैं सिर्फ वाद्य संगीत ही अपने में संपूर्ण हैं जिसे अन्य किसी कला का सहारा नहीं लेना पड़ता।

लोक में विभिन्न प्रकार के वाद्य प्रचलित हैं जैसे— फूँक से बजाये जाने वाले वाद्य (सुषिर वाद्य), चर्म वाद्य (अवनद्ध वाद्य), तार वाद्य (तत् वाद्य), घन वाद्य, मिश्रित वाद्य।

तत् वाद्य—

तत्वाद्यों में तारों को छेड़कर ध्वनि उत्पन्न होती है। सभी तत् वाद्यों में विभिन्न उनमें प्रयुक्त तार के तनाव, लम्बाई, धातु, व उसकी मोटाई पर निर्भर होती है। यही कारण है कि सितार, तानपुरा, सारंगी इत्यादि तार वाद्यों की ध्वनि में अन्तर होता है।

तत् वाद्यों का उपवर्गीकरण—

वादन पद्धति के आधार पर

बनावट के आधार पर

वादन पद्धति के आधार पर—

- अ) छेड़ कर बजाये जाने वाले।
- ब) गज से बजाये जाने वाले।
- स) आघात से बजाये जाने वाले।

बनावट के आधार पर—

- अ) एक तंतुक
- ब) बहु तंतुक
- स) धुनष्पाकार
- द) मंजुषाकार

आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी के लोकसंगीत में कोई भी तन्त्री वाद्यों का प्रयोग दिखाई नहीं देता।

अवनद्ध वाद्य—

अवनद्ध वाद्य का भारतीय संगीत में विशेष महत्व है। अवनद्ध का सामान्य अर्थ है चारों ओर से बँधा, ढका या लपेटा हुआ। संगीत में अवनद्ध वाद्य चमड़े से मढ़े हुए होते हैं। जिसमें हाथ या लकड़ी के प्रहार से ध्वनि उत्पन्न की जाती है। यह चमड़ा किसी ढाँचे, पात्र या लकड़ी इत्यादि पर मढ़कर तैयार किया जाता है। वादन क्रिया की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

1. "दोनों हाथों के पंजों अथवा अँगुलियों से बजाये जाने वाले वाद्य— पखावज, मृदंग, तबला, ढोलक, खोल, नाल, मादल आदि वाद्य आते हैं।
2. एक हाथ की अँगुलियों से बजने वाले वाद्य हुडुक, खँजरी, दायरा।
3. शंकु से बजाये जाने वाले वाद्य— इस वर्ग में नगाड़ा, धौंसा, दमामा, ढाक आदि आते हैं।
4. एक ओर हाथ से तथा एक ओर डंडी से बजाये जाने वाले वाद्य—इस वर्ग में बड़ा ढोल, पटह आदि आते हैं।
5. घुण्डी की चोट से बजने वाले वाद्य। इस वर्ग में डमरू, ढक्का आदि आते हैं।"

राजाबरारी क्षेत्र के प्रचलित अवनद्ध वाद्य है— ढोल, ढफ, डिमकी, ढोलक।

घन वाद्य—

घन वाद्य वह वाद्य कहलाते हैं जिनका ढाँचा सख्त होता है और जो आसानी से मुड़ नहीं सकते जैसे— लोहा, पीतल, ताँबा, काष्ठ, कांस्य इत्यादि। ऐसे वाद्य यंत्रों पर चोट या आघात करके ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इन वाद्य यंत्रों को एक या एक से अधिक धातु के मेल से बनाया जाता है। उदाहरणार्थ— लोहा और लकड़ी के योग से करताल।

घन वाद्य की बनावट पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि यह वाद्य कोई निश्चित स्वर उत्पन्न नहीं करते जिनके द्वारा मैलोडी का सृजन होता है। अतः यही कारण है कि घन वाद्य शास्त्रीय संगीत में नहीं दिखाई देते। घन वाद्यों द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ सिर्फ ताल देने के लिए उपयुक्त मानी जाती है। परन्तु जलतरंग एवं काष्ठ तरंग जैसे वाद्य देखने को मिलते हैं जो मैलोडी उत्पन्न करते हैं। वादन की दृष्टि से घन वाद्य निम्न प्रकार से बजाये जाते हैं

- “1. दो हिस्सों को परस्पर टकराकर बजाए जाने वाले वाद्य— जैसे— झाँझ, मंजीरा, करताल आदि।
 2. डण्डी अथवा लकड़ी या हथौड़ी के प्रहार से बजने वाले वाद्य —घण्टा, जयघण्टा, विजय घण्टा, झाँझ, बड़ी झाँझ आदि।
 3. हाथ हिलाकर बजाए जाने वाले वाद्य— इस उपवर्ग में वे सभी वाद्य आते हैं जिनमें किसी खोखले पदार्थ के भीतर कंकड़ आदि भरा रहता है जैसे— झुनझुना, रम्भ आदि।”
- सभी घन वाद्य वादन की दृष्टि से सरल होते हैं इन वाद्यों का प्रयोग लोकसंगीत में संगत की दृष्टि से होता है। राजाबरारी क्षेत्र के प्रचलित घन वाद्य है— करताल, मंजीरा, घुँघरू, काँच, खँजरी।

सुषिर—वाद्य—

सुषिर वाद्य को लेकर यह लोकप्रिय विश्वास है कि जंगलों में बाँस के छिद्रों से जब हवा गुजरती होगी तब उसमें सीटी जैसी ध्वनि निकलती थी। अतः इसी से प्रेरणा लेकर मनुष्य ने पहला सुषिर वाद्य बनाना सीखा होगा। सुषिर वाद्य की उत्पत्ति फूँक मारकर सीटी बजाने से भी मानी जाती है। यहीं से फूँक से बजने वाले वाद्यों का निर्माण हुआ। आदिवासी जनजातियों के प्रमाणों को देखने पर ज्ञात होता है कि वह खोखली शाखाओं को काटकर शंकु के आकार का भोंपू बनाकर उसे बोलने, गाने या दहाड़ने का कार्य करता था। प्राचीन कालीन वाद्यों में अत्यधिक हड्डियों से निर्मित वाद्य भी प्राप्त होते हैं। अस्थि से बनी सीटी, तुरही, बाँसुरी आदि वाद्यों के अवशेष प्राप्त होते हैं। ऐसी मान्यता है कि सुषिर वाद्य की खोज आन्ध्र और उड़ीसा के पहाड़ी इलाकों में रहने वाली सावरा जाति के द्वारा हुई। प्राचीन सभ्यता में यदि लकड़ी से बने वाद्य रहे होंगे तो उनका अस्तित्व नष्ट हो गया क्योंकि लकड़ी हवा पानी के सम्पर्क से बच नहीं सकी होगी। अतः यह तो स्पष्ट है कि सुषिर वाद्यों की श्रेणी में वह वाद्य आते हैं जो वायु के द्वारा बजते हैं इन वाद्यों में वायु के दबाव को घटा—बढ़ा कर स्वर ऊँचा—नीचा किया जाता है। इन वाद्यों में वादन प्रक्रिया दो प्रकार की होती है—

क) मुँह से हवा फूँककर बजाये जाने वाले वाद्य जैसे— शहनाई, बाँसुरी, मोहरी, शंख आदि।

ख) कृत्रिम साधनों से बजाये जाने वाले वाद्य जैसे— हारमोनियम

राजाबरारी क्षेत्र में बाँसुरी, शहनाई, हारमोनियम आदि सुषिर वाद्य प्राप्त होते हैं।

कुछ **मिश्रित वाद्य** भी प्रयोग में लाये जाते हैं। मिश्रित वाद्य जिसमें लकड़ी, चमड़ा, तार आदि का मिश्रण होता है।

उपर्युक्त वर्णित वाद्य एवं वाद्य वर्गीकरण में प्रस्तुत वाद्य पर चर्चा की गई है। षोडशकर्त्री द्वारा यहाँ मध्यप्रदेश में आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी के लोकसंगीत में प्रयुक्त वाद्यों के बारे में बताया जा रहा है। जो निम्नवत है।

मिश्रित वाद्य वे वाद्य होते हैं जिसमें लकड़ी, चमड़ा, तार आदि का मिश्रण होता है।

1. ढोल—

सम्पूर्ण भारत में ढोल वाद्य मंगल का प्रतीक माना जाता है। यह लोकवाद्यों में अत्यधिक महत्वपूर्ण व उपयोगी ताल वाद्य है। मध्यप्रदेश के अन्तर्गत राजाबरारी क्षेत्र में गौंड, कोरकू, जनजातियों के लोकसंगीत में ढोल का प्रयोग प्रमुख रूप से पाया जाता है। ढोल विभिन्न अवसरों पर आवश्यकतानुसार बजाया जाता है।

ढोल एक बड़े बेलन के आकार का अन्दर से खोखला गोल आकृति का होता है। ढोलक की भाँति इसके दोनों मुँह चमड़े से मढ़े रहते हैं। यह लोहे तथा लकड़ी से बनाया जाता है। लोहे से बड़े आकार का पोला ढोल बनाया जाता है, जिस पर बकरे की खाल से दोनों मुँह को मढ़ा जाता है। इसमें गजरे की सूत की सहायता से और सूत की डोरी में लोहे के छल्ले डालकर कसा जाता है। एक तरफ खाल पर मसाला लगाते हैं। इसे बजाने के लिए दो लकड़ियों की डंडियों का प्रयोग किया जाता है व जमीन पर रखकर या गले में लटकाकर बजाते हैं। चमड़े को कसने के लिए सूत की रस्सी लगी होती है जिसमें छल्ले लगा दिये जाते हैं। इन्हीं छल्लों के द्वारा आवाज को ऊँचा-नीचा किया जाता है। दाँये मुख का नाद ऊँचा व बाँये का नीचा होता है। राजाबारी क्षेत्र में प्रयोग होने वाले ढोल छोटे-बड़े आकार के होते हैं। इनकी लम्बाई 25 से 30 इंच की होती है। ढोल के दोनों मुखों का व्यास लगभग 16 से 18 इंच होता है यह आम, महुवा, गुरार व सिमनीवृक्ष की लकड़ी से बना है। इसे डण्डा नाच, सिडोली, फगनई, लगड़ी आदि नृत्यों के साथ बजाया जाता है।

2. डफ—

यह वाद्य मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। जैसे— छत्तीसगढ़ में दफड़ा, बुन्देलखण्ड एवं बघेलखण्ड में ढपला, मालवा निमाड़ में डफ, ढप या घेरा, नैतूल में ढप या घेरा इत्यादि इस वाद्यों के नामों में भले ही भिन्नता हो परन्तु इसका आधार-प्रधार प्रकृति और वादन शैली लगभग समान ही है। यह उत्तर प्रदेश में प्रचलित चंग का ही एक रूप है। इस वाद्य का निर्माण धातु-लकड़ी और चमड़े के मेल से होता है। इसका घेरा कहीं लकड़ी का तथा कहीं लोहे की चादर का बना होता है। धातु की पट्टी लोहार, तमेर या कसार बनाता है तथा लकड़ी की पट्टी बढ़ई या स्वयं लोक कलाकार बनाते हैं। इस वाद्य को निर्मित करने के लिए सर्वप्रथम धातु या लकड़ी की गोलाकार पट्टी बनाई जाती है।

“इसका व्यास 20 इंच से 28 इंच, चौड़ाई लगभग 2 इंच और मोटाई, 25 इंच होती है।”

इसका खोल वटवृक्ष की डगाल की लकड़ी से बनाया जाता है। डगाल से तात्पर्य यह है कि जो शाखा वृक्ष से झूलकर जमीन में अंकुरित होकर मोटी हो जाए। इस डगाल को काटकर 5 फुट का टुकड़ा निकालते हैं तथा इसे छीलकर 36 इंच से 40 इंच लम्बाई की पट्टी बनाई जाती है। इस पट्टी को 2-3 दिनों तक किसी वजनदार वस्तु से दबाकर रखते हैं लकड़ी का टुकड़ा अध गीला होने पर इसे 6 इंच गहरे व $1\frac{1}{2}$ इंच मोटे घेरानुमा गड्ढे में फंसा दिया जाता है और ऊपर से मिट्टी व भारी वस्तु से दबा दिया जाता है व तब तक मिट्टी के अन्दर रखते हैं जब तक यह सूखकर गोल आकृति का नहीं हो जाता। तत्पश्चात् निकालकर दोनों सिरों को बारीकी से लोहे की कीलों को जोड़ दिया जाता है। इस तरह डफ का खोल तैयार हो जाता है। वट-वृक्ष के अतिरिक्त खम्हेर वृक्ष की लकड़ी भी प्रयोग में लायी जाती है। डफ के खोल को एक ओर से बकरे या बकरी के चमड़े से मढ़ा जाता है व दूसरा हिस्सा खाली छोड़ दिया जाता है। खोल पर चमड़ा मढ़ने के लिए इसकी गोलाई में किनारे पर उड़द के दाने या इमली के बीज पीस कर पानी के साथ लगाते हैं व मजबूती के लिए बीच-बीच में बारीक कीलें लगा देते हैं इस खोल की गोलाई में थोड़ी-थोड़ी ईर्षा पर स्क्रू लगाये जाते हैं जो स्वर कम या ज्यादा करने के काम आते हैं वास्तविक रूप में लकड़ी का खोल ही पारम्परिक है परन्तु बदलते परिवेश में धातु का प्रयोग भी होने लगा है। डफ का वादन बाँए हाथ की हथेली में पकड़कर दाँए हाथ से होता है। कहीं-कहीं हाथ की बजाए लकड़ी से भी बजाया जाता है। यह वाद्य आटा छानने की छलनी के आकार के बराबर होता है। राजाबारी क्षेत्र में डफ का प्रयोग नृत्य व संस्कार, लोकगीतों के साथ किया जाता है।

3 टिमकी—

टिमकी अत्यन्त छोटा, सरल, सस्ता वाद्य है। किन्तु इसका स्वर बहुत मूल्यवान है इससे निकलती टन्-टन् की ध्वनि बहुत अनोखी है। यह वाद्य मिट्टी और चमड़े से निर्मित होता है। टिमकी मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में प्रमुख रूप से लोकसंगीत में प्रयोग किया जाता है। इसका खोल कटोरानुमा मिट्टी का होता है। कुम्हार के द्वारा यह खोल तैयार किया जाता है जो कि घड़े के समान आवा में पकाया जाता है इस पके हुए खोल के मुख पर चमड़ा मढ़ा जाता है व चमड़े के घोर पर छेद करके चमड़े की बत्ती बनाकर उन छेदों में से पिरोकर खोल के निचले हिस्से पर बाँधा जाता है इसे कमर में बाँधकर सामने की ओर लटकाकर तथा जमीन पर रखकर बजाते हैं। बाँस या लकड़ी की दो पतली लकड़ियों द्वारा आघात करके बजाते हैं टिमकी खड़े होकर नृत्य करते हुए घूम-घूम कर तथा बैठकर बजाते हैं टिमकी के साथ ढोलक, नगाड़े माँदर आदि सहवाद्य के रूप में भी बजाये जाते हैं मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं जैसे छत्तीसगढ़ में दमऊ, बस्तर में तुडबुडी, धार-झाबुआ में कुण्डी, बैतूल- होशंगाबाद में टिमकी, बुन्देलखण्ड में नगड़िया या टिमकी, बघेलखण्ड में नगड़िया, मण्डला में टिमकी आदि।

4. ढोलक—

लोकवाद्यों में ढोलक सबसे प्रचलित व पारम्परिक लोकवाद्य है। ढोल व ढोलक दिखने में समान होते हैं परन्तु कहीं न कहीं अन्तर होता है। सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में ढोलक के विविध आकार पाये जाते हैं। इसका प्रयोग लोकनृत्य व लोकगीतों तथा स्त्रियों के घरेलू गीतों में होता है। वैसे तो समस्त भारत में प्रचलित है। परन्तु प्रमुख रूप से पंजाब तथा उत्तरप्रदेश का लोकप्रिय वाद्य है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रायः सभी घरों में उपलब्ध होती है। ढोलक आम, बीजा, शीशम, सागौन व नीम की लकड़ी से बनायी जाती है। ढोलक का मुख्य भाग खोल कहलाता है। खोल का मध्य भाग उठा हुआ रहता है व मध्यभाग से दोनों खोल के सिरे ढलान रूप में होते हैं खोल के दोनों मुखों पर बकरे का चमड़ा मढ़ा जाता है दोनों गोलाकार पुड़ियों पर विशेष स्याही लगाई जाती है पुड़ियों के सिरे बाँस की कमानी द्वारा कसे होते हैं इस कमानी को मिलाकर छेद किये जाते हैं व सूत की रस्सी से कस कर धातु के छल्ले पिरो दिये जाते हैं यह छल्ले संख्या में अठारह होते हैं इन्हीं छल्लों के द्वारा ढोलक का स्वर मिलाया जाता है। प्राचीन काल में ढोलक का प्रयोग पूजा-प्रार्थना, नृत्य के अतिरिक्त खूँखार जानवरों को भगाते समय व चेतावनी देने के रूप में होता है। धीरे-धीरे इसके प्रयोग का दायरा विकसित होता गया और यह संगीत मंडली, नृत्य-गान, जश्न मनाने उत्साहपूर्ण वातावरण बनाने में उपयोग की जाने लगी।

विभिन्न संस्कारी एवं शुभ अवसरों ढोलक का वादन शुभ सूचक माना जाता है। जिस तरह शास्त्रीय संगीत में तबला एवं मृदंग महत्वपूर्ण वाद्य यन्त्र माने जाते हैं उसी प्रकार लोक संगीत में ढोलक प्रमुख है।

ढोलक का वादन तीन प्रकार से होता है— गोद में रखकर खड़े होकर व जमीन में रखकर घुटने से दबाकर बजायी जाती है। ढोलक का वादन दोनों हाथों की उँगलियों से या गदेली के आघात से होता है। राजाबरारी क्षेत्र के चिटकोरी नृत्य, डण्डा नृत्य, लंगड़ी भजन, नारदी व ठाठिया नृत्य में प्रमुख रूप से बजायी जाती है।

5. करताल या खड़ताल—

सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में खड़ताल बहुत ही प्रचलित लोकवाद्य है। यह वाद्य चार लकड़ी की पट्टियों का बना होता है। इन पट्टियों के बीच में छेद होते हैं। जिनमें पीतल की पतली गोल आकार की पत्तियां लगी रहती हैं इसके मध्य भाग में खाली जगह होती जिसे चार उँगलियों व अंगूठे में पहना जाता है। दोनों हाथों में दो-दो टुकड़े फंसा कर आपस में आघात करके बजाते हैं। यह टुकड़े लगभग 2 इंच चौड़े तथा 5 से 10 इंच लम्बी लकड़ी के होते हैं। इस वाद्य से उत्पन्न होने वाली ध्वनि मधुर होती है जिसे अधिकतर भजन कीर्तन, फाग आदि लोकगीतों के साथ बजाया जाता है।

राजाबरारी क्षेत्र में भजन (नारदीभजन) के साथ करताल बजायी जाती है तथा कुछ नृत्यों में भी इसका प्रयोग होता है।

6. मंजीरा

मध्यप्रदेश के लोकवाद्यों में मंजीरे का अपना अलग महत्व है। यह सहवाद्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है मंजीरा काँसा धातु से बनाये जाते हैं परन्तु शुद्ध पीतल या काँसा से नहीं बनते अपितु इनके मिश्रण से बनाये जाते हैं। काँसा व पीतल के साथ जस्ता ताँबा, कस्कुट आदि की न्यूनमात्रा भी मिली होती है इन मिश्रित धातुओं के कारण ही मंजीरे की ध्वनि मधुर होती है। धातुओं के मिश्रण, प्रकार, वजन, आकार आदि की गुणवत्ता ही इस वाद्य को उत्तम मधुर ध्वनि प्रदान करती है। ताम्रकार (तमेर) व कसार (कसेर) मंजीरे के निर्माणकर्त्ता होते हैं। यह वाद्य छोटे से छोटा व बड़े से बड़ा आकार का बनाया जाता है। मंजीरे का अधिकतम आकार का व्यास 3" और न्यूनतम आकार का व्यास (1 1/2") डेढ़ इंच होता है। मंजीरा दो कटोरीनुमा आकार का होता है व कटोरी के समान अन्दर से गहरा होता है इस कटोरी के मध्य भाग में एक छेद होता है जिसके माध्यम से डोरी पिरोयी जाती है यह डोरी दोनों भागों को आपस में जोड़ती है मंजीरे के इन दोनों भागों की डोरी दोनों हाथों में पकड़कर परस्पर आघात करके बजाया जाता है इसे आड़ा-तिरछा ऊपर-नीचे करके बजाते हैं। मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में मंजीरे का प्रयोग लोकगीत व लोकनृत्य के साथ होता है इसके अतिरिक्त भजन-कीर्तन लोकनाट्य, लोककथाओं आदि में भी प्रयोग होता है। बुन्देलखण्ड में इसे तारें कहते हैं। राजाबरारी क्षेत्र में मंजीरे का प्रयोग नादरी भजनों (भजन) में प्रमुख रूप से होता है इसके अतिरिक्त नृत्यों के साथ भी इसका वादन होता है।

7. घुंघरू-

राजाबरारी क्षेत्र में घुंघरू की बनावट थोड़ी भिन्न होती है। यहाँ जिस प्रकार का घुंघरू प्रयोग किया जाता है वैसा साधारण रूप से दिखाई नहीं देता है। लोहे की एक रॉडनुमा आकृति होती है जो कि 3 से 4" लम्बी होती है। इस रॉडनुमा आकृति होती है जो कि 3 से 4" लम्बी होती है। इस लोहे की रॉड के दोनों सिरों पर घुंघरू लगे रहते हैं। ये घुंघरू अन्दर से पोले, चांदी व पीतल के होते हैं तथा इसके अन्दर लोहे व कंकड़ की गोलियाँ डली होती हैं जो कि आपस में टकराव से ध्वनि उत्पन्न करती हैं। लोहे की रॉड के बीच में एक गोल छल्लानुमा आकृति रहती है जिसमें अंगुली फंसाई जाती है। अतः इस प्रकार के घुंघरू को हाथ की अंगुली में फंसाकर, हथेली पर आघात करके बजाया जाता है।

8. खंजरी-

खंजरी का आदिम नाम 'डाकी' है। "खंजरी नाम हलबी में मिलता है, जो संस्कृत के 'कंजिरा' से व्युत्पन्न है। यह एक मुख वाला वाद्य है मूल्य और वादन दोनों दृष्टियों से यह एक सस्ता वाद्य है।"

खंजरी ढड के समान एक छोटा दो से ढाई इंच चौड़ा काठ की गोलाकार परिधि का बना वाद्य यंत्र है इसे चंग भी कहते हैं। इसके घेरा लकड़ी व धातु का बना होता है जिसमें पीतल के पतले व छोटे छल्ले लगे होते हैं। जब एक हाथ से खंजरी को पकड़कर दूसरे हाथ पर आघात करते हैं तो यह पीतल के छल्ले आपस में टकराकर खन-खन की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। खंजरी आम की लकड़ी से बनाई जाती है। कर्नाटक संगीत में इसे 'खंजीरा' कहते हैं। छत्तीसगढ़ में इसे 'खंजीरी' कहते हैं।

9. बाँसुरी—

फूँक मारकर बजाये जाने वाले वाद्यों में बाँसुरी का सर्वप्रथम नाम आता है। बाँसुरी का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है जिससे हर व्यक्ति भली-भाँति परिचित है। मध्यप्रदेश के लोकसंगीत में बाँसुरी का विशिष्ट स्थान है। मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में बाँसुरी के भिन्न-भिन्न नाम हैं व उनकी बनावट में भी भिन्नता है जैसे—

1. छत्तीसगढ़— राउत बाँसुरी, धमधाही बाँसुरी, मुरली, दोहरी बाँसुरी, बंसी।
2. बस्तर— माड़िया बाँसुरी।
3. मंडला सिवनी— जोड़ी बाँसुरी।
4. मंडला— अहीरी बाँसुरी, मुरली।
5. जबलपुर— बंशी, बाँसुरी।
6. बैतूल—होशंगाबाद— भूगड़, पावी या पवाई।
7. धार—झाबुआ— पावला, पावली, रोहली, सुकटा, सुकटी, बाहली।
8. बघेलखंड— बाँसुरी, बंशी।
9. बुन्देलखण्ड— बंशी, बरेदी बाँसुरी।
10. मालवा, निमाड़— बंशी, बँसरी

कुछ विशेष नामों को छोड़कर प्रायः बाँसुरी, बंसी और मुरली नाम सम्पूर्ण मध्यप्रदेश के लोक जीवन में दृष्टिगोचर होता है।

इसकी बनावट, आकार, प्रकार में अवश्य किंचित भिन्नता है किन्तु बाँस सबकी जननी है। बाँस से बनी बाँसुरी ही मौलिक एवं पारम्परिक होती है।”

आकार—प्रकार में बाँसुरी तीन प्रकार की होती है

- मोटी बड़ी बाँसुरी
- पतली बाँसुरी
- छोटी बाँसुरी

पहाड़ी क्षेत्रों में बाँसुरी रिंगाल से बनायी जाती है। रिंगाल पर्वतीय क्षेत्र में पाया जाने वाला एक पेड़ होता है जिसके तने की मोटाई बाँसुरी के मोटाई के बराबर होती है।

आधुनिक समय में बाँसुरी का प्रयोग शास्त्रीय संगीत में होने लगा है। आजकल बाँसुरी पीतल आदि धातुओं की भी देखने को मिलती है। बाँसुरी की मनमोहक ध्वनि मन को आनन्दित करती है। मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में बाँस की छोटी व बड़ी दोनों प्रकार की बाँसुरियों का प्रयोग होता है। इस क्षेत्र के लोक नृत्य, लोकगीतों, शादी-विवाह, धार्मिक, सामाजिक सांस्कृतिक आयोजनों आदि में बाँसुरी की कर्णप्रिय ध्वनि गूँजती है।

10. शहनाई—

शहनाई बहुत ही सुरीली व मीठा वाद्य है। यह वाद्य मांगलिक कार्यों में प्रमुख रूप से बजाया जाता है। यह धतूरे के फूल के आकार की लंबी, लाल चंदन की बनी होती है इसमें बेर के बीज के आकार के थोड़ी-थोड़ी दूरी पर 6 छिद्र होते हैं। इसके मुख पर पी-पी नामक चांदी का टुकड़ा लगा रहता है। पी-पी से जुड़ा हुआ सरकंडा लगा होता है। जिसे पम्पिका कहते हैं। यह पम्पिका चांदी या हाथीदांत के छल्ले से जुड़ी रहती है। इसी पम्पिका में मुंह से हवा फूँक कर स्वर की उत्पत्ति होती है। अर्थात् शहनाई फूँक से बजाने वाला, सभी वाद्यों का बादशाह कहलाता है।

मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में वैसे तो यह वाद्य लोकसंगीत में इतना प्रयुक्त नहीं होता परन्तु कुछ मांगलिक कार्यों व सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सहवाद्य के रूप में बजायी जाती है।

निष्कर्षतः लोकवाद्य का प्रयोग लोकसंगीत में विशेष रूप से होता है। लोक संगीत के अन्तर्गत लोकवाद्य का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत विषय पर अभी भी षोध सँभावनायें अपेक्षित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. डॉ. योगमाया शुक्ल, तबले का उद्गम, विकास और वादन शैलियाँ, पृष्ठ-22, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
2. बसन्त निरगुणे, लोक संस्कृति, पृष्ठ-83, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (म.प्र.)
3. डॉ. अंजना भार्गव, भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन, पृष्ठ- 54, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
4. हीरालाल शुक्ल, आदिवासी संस्कृति, संगीत एवं नृत्य, पृष्ठ- 31, बी.आर. रिदम्स, दिल्ली
5. शरीफ मोहम्मद, मध्यप्रदेश का लोकसंगीत, पृष्ठ-158, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर मार्ग, भोपाल

